1954G Memorials of Rishabhnath

Rishabhnath ke amar smarak (In Ahimsa Vaani, 1954, p. 29-34)

Reprinted in Ahimsa Vaani apirl 1957 p. 29-34.

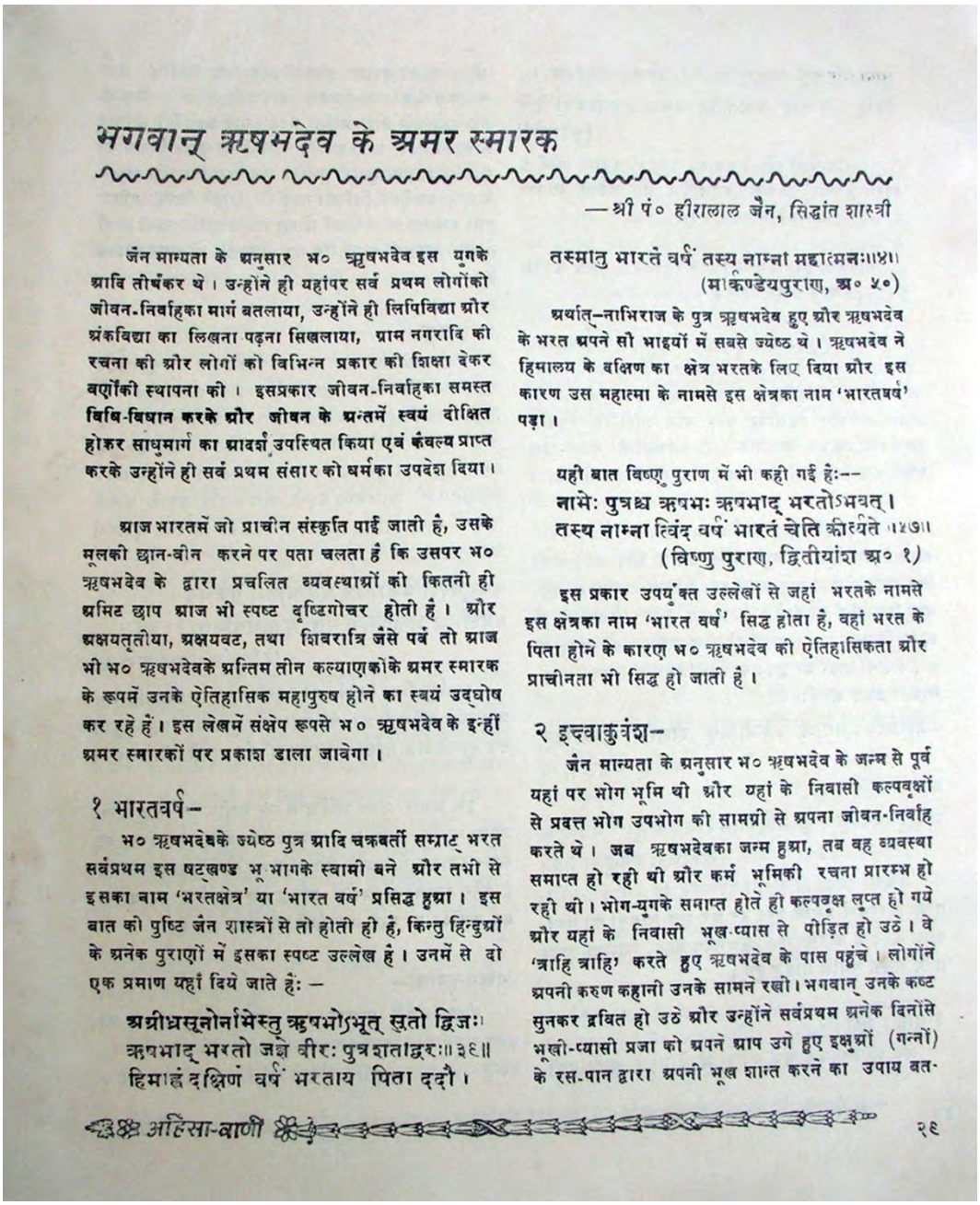

भगवान् ऋषभदेव के अमर स्मारक

—श्री पं० हीरालाल जैन, सिद्धांत शास्त्री

जैन मान्यता के अनुसार भ० ऋषभदेव इस युगके आदि तीर्थंकर थे। उन्होंने ही यहांपर सर्व प्रथम लोगोंको जीवन-निर्वाहका मार्ग बतलाया, उन्होंने ही लिपिविद्या और अंकविद्या का लिखना पढ़ना सिखलाया, ग्राम नगरादि की रचना की और लोगों को विभिन्न प्रकार की शिक्षा देकर वर्णोंकी स्थापना की। इसप्रकार जीवन-निर्वाहका समस्त विधि-विधान करके और जीवन के अन्तमें स्वयं दीक्षित होकर साधुमार्ग का आदर्श उपस्थित किया एवं कैवल्य प्राप्त करके उन्होंने ही सर्व प्रथम संसार को धर्मका उपदेश दिया।

आज भारतमें जो प्राचीन संस्कृति पाई जाती है, उसके मूलकी छान-बीन करने पर पता चलता है कि उसपर भ० ऋषभदेव के द्वारा प्रचलित व्यवस्थाओं की कितनी ही अमिट छाप आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। और अक्षयतृतीया, अक्षयवट, तथा शिवरात्रि जैसे पर्व तो आज भी भ० ऋषभदेवके अन्तिम तीन कल्याणकोंके अमर स्मारक के रूपमें उनके ऐतिहासिक महापुरुष होने का स्वयं उद्घोष कर रहे हैं। इस लेखमें संक्षेप रूपसे भ० ऋषभदेव के इन्हीं अमर स्मारकों पर प्रकाश डाला जावेगा।

१ भारतवर्ष–

भ० ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र आदि चक्रवर्ती सम्राट् भरत सर्वप्रथम इस षट्खण्ड भू भागके स्वामी बने और तभी से इसका नाम 'भरतक्षेत्र' या 'भारत वर्ष' प्रसिद्ध हुआ। इस बात को पुष्टि जैन शास्त्रों से तो होती ही है, किन्तु हिन्दुओं के अनेक पुराणों में इसका स्पष्ट उल्लेख है। उनमें से दो एक प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं: –

अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः॥३९॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥४॥
(मार्कण्डेयपुराण, अ० ५०)

अर्थात्–नाभिराज के पुत्र ऋषभदेव हुए और ऋषभदेव के भरत अपने सौ भाइयों में सबसे ज्येष्ठ थे। ऋषभदेव ने हिमालय के दक्षिण का क्षेत्र भरतके लिए दिया और इस कारण उस महात्मा के नामसे इस क्षेत्रका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा।

यही बात विष्णु पुराण में भी कही गई है:–
नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते॥४७॥
(विष्णु पुराण, द्वितीयांश अ० १)

इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेखों से जहां भरतके नामसे इस क्षेत्रका नाम 'भारत वर्ष' सिद्ध होता है, वहां भरत के पिता होने के कारण भ० ऋषभदेव की ऐतिहासिकता और प्राचीनता भी सिद्ध हो जाती है।

२ इक्ष्वाकुवंश–

जैन मान्यता के अनुसार भ० ऋषभदेव के जन्म से पूर्व यहां पर भोग भूमि थी और यहां के निवासी कल्पवृक्षों से प्रदत्त भोग उपभोग की सामग्री से अपना जीवन-निर्वाह करते थे। जब ऋषभदेवका जन्म हुआ, तब वह व्यवस्था समाप्त हो रही थी और कर्म भूमिकी रचना प्रारम्भ हो रही थी। भोग-युगके समाप्त होते ही कल्पवृक्ष लुप्त हो गये और यहां के निवासी भूख-प्यास से पीड़ित हो उठे। वे 'त्राहि त्राहि' करते हुए ऋषभदेव के पास पहुंचे। लोगोंने अपनी करुण कहानी उनके सामने रखी। भगवान् उनके कष्ट सुनकर द्रवित हो उठे और उन्होंने सर्वप्रथम अनेक दिनोंसे भूखी-प्यासी प्रजा को अपने आप उगे हुए इक्षुओं (गन्नों) के रस-पान द्वारा अपनी भूख शान्त करने का उपाय बत-

लाया और इसी कारण लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु' कहने लगे।

"इक्षु इति शब्दं अकतीति, अथवा इक्षुमाकरोतीति इक्ष्वाकुः"

अर्थात भूखी प्यासी प्रजाको 'इक्षु' ऐसा शब्द कहने के कारण भगवान् 'इक्ष्वाकु' कहलाये। और उनकी सन्तान इक्ष्वाकुवंशके नामसे प्रसिद्ध हुई।

सोमवंश, सूर्यवंश आदि जितने भी वंश हैं, उनमें 'इक्ष्वाकुवंश' ही आद्य माना जाता है।

प्रजा की भूख-प्यास शान्त करने के उपाय बतलाकर तदनन्तर भ० ऋषभदेवने प्रजाको असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्पवृत्तिकी शिक्षा देकर अपनी आजीविका चलाने का मार्ग बतलाया और ग्राम नगरादिके निर्माण का उपाय बताकर व्याघ्रादि हिंस्र प्राणियों से आत्म-रक्षा करने और सर्दी-गर्मीकी बाधा दूर करनेका मार्ग दिखाया।

भ० ऋषभदेव ने ही सर्व प्रथम घड़ा बनाने की विधि बतलाई और कूप, बावड़ी आदि बनाने और उनसे पानी निकालकर पीनेका मार्ग बतलाया। इन सब कारणों से भगवान् 'प्रजापति' कहलाये। विक्रमकी दूसरी शताब्दी के महान् विद्वान् स्वामी समन्तभद्रने अपने प्रसिद्ध 'स्वयम्भूस्तोत्र' में इन दोनों बातों को इस प्रकार चित्रित कर उनकी प्रमाणिकता प्रकट की है:-

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥२॥

तथा—

मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुः रच्युतः ॥३॥

संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस कर्म-भूमि-युगके प्रारम्भमें प्रजाके कष्ट दूर कर सुख-साधनों की सुव्यवस्था करने के कारण भ० ऋषभदेव ब्रह्मा, विधाता सृष्टा आदि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध हुए।

३ ब्राह्मी लिपि-

भ० ऋषभदेव ने सर्व प्रथम अपने भरत आदि पुत्रों को पुरुषों की बहत्तर कलाओं में पारंगत किया। भरत नाटच संगीत कलामें सबसे अधिक निपुण थे। आज भी नाटचशास्त्रके आद्य प्रणेता भरत माने जाते हैं। भगवान् ने अपनी बड़ी ब्रह्मी पुत्रीको लिपिविद्या-अक्षर लिखने की कला-और छोटी सुन्दरी पुत्रीको अंकविद्या सिखाई। ब्राह्मी के द्वारा प्रचलित लिपिका नाम ही 'ब्राह्मी लिपि' प्रसिद्ध हुआ। भारत की लिपियों में यह सबसे प्राचीन मानी जाती है और प्रणेताके रूपमें वह भ० ऋषभदेव की अमर स्मारक है।

४ प्रयाग-

एक लम्बे समय तक प्रजाका पालन कर भ० ऋषभदेव जब संसार से विरक्त हुए, तो उन्होंने पुरिमतालपुर के सिद्धार्थ वनमें जाकर जिनदीक्षा ग्रहण की। उस समय उपस्थित सारी प्रजाने और चारों जातिके देवोंने भगवान की बड़े समारोह के साथ पूजन कर दीक्षा कल्याणक महोत्सव मनाया। उसीसमय से वह स्थान प्रकृष्ट याग अर्थात् पूजाके योगसे 'प्रयाग' नामसे प्रसिद्ध होगया। जैसा कि हरिवंश पुराणमें कहा है:—

एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिम पूजयन्।
प्रदेशः स प्रयागाख्यो यतः पूजार्थयोगतः ॥९६॥
(हरिवंश पुराण सर्ग ९)

अर्थात्-जिस स्थान पर प्रजाने अपने प्रजापति भ० ऋषभदेव की पूजा की, वह प्रदेश उसी समय से प्रकृष्ट पूजा रूप यागके अर्थ सम्बन्ध से 'प्रयाग' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार उक्त उल्लेख से यह भलीभांति सिद्ध है कि प्रयाग नामक तीर्थ भ० ऋषभदेवके दीक्षा कल्याणक का अमर स्मारक है। आज जैन लोग यह तीर्थ कुछ भूलसे गये हैं और अजैनों में विशेष प्रसिद्ध हो रहा है। पर मूलतः यह जैनोंका या सारे भारतीयों का आद्य क्षेत्र है।

अक्षयतृतीया-

दीक्षा लेनेके पश्चात् भ० ऋषभदेव ने छहमास का उपवास स्वीकार किया। तदनन्तर वे आहार के लिए निकले। परन्तु उस समय के लोग मुनियों को आहार देनेकी विधि

नहीं जानते थे, कोई उनके सामने रत्नोंका थाल भरकर पहुंचता, तो कोई अपनी सुन्दरी कन्या लेकर उपस्थित होता। विधिपूर्वक आहार न मिलने के कारण ऋषभदेव पूरे छहमास तक इधर उधर परिभ्रमण कर अन्तमें हस्तिनापुर पहुंचे। उस समय वहांके राजा सोमप्रभ थे। उनके छोटे भाई श्रेयान्स थे। उनका कई पूर्व भवोंमें भगवान् से सम्बन्ध रहा है, और उन्होंने पूर्वभवमें भगवान् के साथ किसी मुनिको आहार दान भी दिया था। भगवान दर्शन करते ही श्रेयान्सको पूर्वभवकी सारी बातें स्मरण हो आईं और उन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से भगवान् का प्रतिग्रह करके इक्षुरसका आहार दिया। उस दिन वैशाख शुक्ला तृतीया तिथि थी। भगवान को पूरे एक वर्षके पश्चात् आहार मिलने के हर्षमें देवोंने पंचाश्चर्य किये, श्रेयान्सका जयघोष किया और 'तुम दान तीर्थके प्रवर्तक हो' यह कहकर उनका अभिनन्दन किया। इस प्रकार भगवान् को आहार मिलने के योगसे यह तिथि अक्षय बनगई और तभीसे यह 'अक्षय-तृतीया' के नामसे प्रसिद्ध होकर मांगलिक पर्वके रूपमें प्रचलित हुई। जैसा कि कहा:—

राधशुक्ल तृतीयायां दानमासी त्तदक्षयम्।
पर्याक्षय तृतीयेति ततोऽद्याबि प्रवर्तते ॥३०१॥
(त्रि० ल० श० पर्व १ सर्ग ३)

६ अक्षयवट–

भ० ऋषभदेव पूरे एक हजार वर्ष तक तपस्या करने के पश्चात् पुरिमतालपुर पहुंचे-जिसे कि आज प्रयाग या इलाहाबाद कहते हैं। उस नगर के समीपवर्ती शकट नामक उद्यान के भीतर वटवृक्षके नीचे वे ध्यान लगाकर अवस्थित हो गये। ध्यान करते हुए उन्हें फाल्गुण कृष्णा एकादशी के दिन कैवल्यकी प्राप्त हुई और वे अक्षय अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के धारक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन गये। भगवान् को जिस वटवृक्षके नीचे कैवल्यकी प्राप्त हुई, वह उसी दिनसे 'अक्षयवट' के नामसे संसारमें प्रसिद्ध हुआ।

नन्दिसंघकी गुर्वावली में 'अक्षयवट' का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है:—

"श्री सम्मेदगिरि चम्पापुरी ऊरजंयन्तगिरि-अक्षयवट-आदीश्वर दीक्षा सर्व सिद्धक्षेत्रकृतया त्राणाम्"

इस उल्लेख से सिद्ध है कि 'अक्षयवट' भी जैनियों का तीर्थ स्थान और भ० ऋषभदेव के ज्ञान कल्याण का अमर स्मारक है।

७ शिवरात्रि और कैलास पर्वत

कैवल्य प्राप्तिके पश्चात् भ० ऋषभदेवने आर्यावर्त के सर्व देशोंमें विहार कर धर्मका प्रसार किया और जीवन के अन्तमें अष्टापद पहुंचे, जिसे कि आज कैलास पर्वत कहते हैं। वहां योग-निरोध कर आपने माघकृष्णा चतुर्दशी के दिन शिव (मोक्ष) प्राप्त किया। जैसा सि जैनियों के अति प्राचीन 'तिलोयपण्णती' नामक ग्रन्थमें कहा है:—

माघस्य किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हेणिय य जम्मणक्खत्ते।
अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोमि ॥

अष्टापद या कैलास से भगवान ने जिस दिन शिवपद प्राप्त किया, उस दिन सर्वसाधु-संघने दिनको उपवास और रात्रिको जागरण करके शिवकी आराधना की, इस कारण उसी दिनसे यह तिथि भी 'शिवरात्रि' के नामसे प्रसिद्ध हुई। उत्तर प्रान्तमें शिवरात्रिका पर्व फाल्गुण कृष्ण चतुर्दशी को माना जाता है; इसका कारण उत्तरी और दक्षिणी देशोंके पंचागों में एक मौलिक भेद है। उत्तरवाले मासका आरम्भ कृष्णपक्षसे मानते हैं, पर दक्षिण भारतवाले शुक्लपक्षसे मासका प्रारम्भ मानते हैं और प्राचीन मान्यता भी यही है। यही कारण है कि कई हिन्दूशास्त्रों में माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रिका उल्लेख पाया जाता है। यथा:—

माघे कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः॥
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः॥
(ईशान संहिता)

इस उद्धरण में माघकृष्णा चतुर्दशी को जहां शिवरात्रि का उल्लेख है, वहां एक महत्त्वपूर्ण बात भी इसमें दी गई है कि इस तिथिकी महानिशामें आदिदेव-जिन्हें कि जैनी ऋषभदेव कहते हैं, शिवलिंग रूपसे प्रकट हुए। अर्थात् जो आज तक आदिदेव कहलाते थे, वे आजसे शिवपद प्राप्त करने के कारण 'शिव' कहलाने लगे।

उत्तर और दक्षिण भारत वालोंकी यह मास-विभिन्नता केवल कृष्णपक्षमें ही रहती है; किन्तु शुक्लपक्ष तो दोनोंके मतानुसार एक ही होता है। जब उत्तर भारत में फाल्गुण कृष्णपक्ष चालू होगा, तब दक्षिण भारत में वह माघकृष्णपक्ष कहलायेगा। जैन पुराणों के प्रणेता प्रायः दक्षिण भारतके ही आचार्य हुए हैं। अतः उनके द्वारा लिखी गई माघकृष्णा चतुर्दशी उत्तर भारतवालों के लिए फाल्गुणकृष्णा चतुर्दशी हो हो जाती है। इस मास-वैषम्यका समन्वय हिन्दू-पुराणों में भी इसी प्रकार से किया गया है। कालमाधवीय नागर खण्डमें लिखा है:—

माघमासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता।'

अर्थात्-दक्षिण वालोंके माघमासके शेष या अन्तिमपक्ष को और उत्तर वालोंके फाल्गुणके प्रथम पक्षकी कृष्णा चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि 'शिवरात्रि', पर्व और कैलास पर्वत भ० ऋषभदेव के निर्वाण कल्याणक का अमर स्मारक है।

८ शिवजी और उनका वाहन नन्दी वृषभ (बैल)

हिन्दुओंने जिन तेतीस कोटि देवताओं को माना है, उनमें ऐतिहासिक दृष्टिसे शिवजी को सबसे प्राचीन या आदि देव माना गया है। तथा उनका वाहन नन्दी बैल और निवास कैलास पर्वत माना जाता है। साथ ही शिवजी का नग्नस्वरूप भी हिन्दूपुराणों में बताया गया है। जैन मान्यता के अनुसार ऋषभदेव इस युगके आदि तीर्थंकर थे और उनका वृषभ चिन्ह था। जैसा कि 'जय विसह विसंवितय विस-पयास' (अपभ्रंश हरिवंश पुराणका मंगलपद्य) आदि वाक्यों से स्पष्ट है। इसका अर्थ यह है कि वृषभाङ्कित अर्थात् बैलके चिन्हवाले और वृष(धर्म) के प्रकाशक ऋषभ देव जयवन्त रहें। वे दीक्षा लेनेके पश्चात् आजीवन नग्न रहे और अन्तमें कैलास पर्वत से शिवप्राप्त किया। क्या ये सब बातें ऋषभदेव और महादेव की एकताकी द्योतक नहीं हैं? निश्चयतः उनकी समता अकारणक नहीं है और उसकी तहमें एक महान तथ्य भरा हुआ है।

९ जटा जूट-युक्त शिव और ऋषभदेव

शिवजी को जटाजूट-युक्त माना जाता है। भगवान ऋषभदेव की आज जितनी भी प्राचीन मूर्तियां मिली हैं, उन सबमें केश-जटाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। आ० जिनसेन ने अपने आदि पुराण में लिखा है कि भ० ऋषभदेवके दीक्षा लेनेके अनन्तर और पारणा करने के पूर्व एक वर्ष के घोर तपस्वी जीवन में उनके केश बहुत बढ़ गये थे। उनके इस तपस्वी जीवन के स्मरणार्थ ही जटा-जूट-युक्त मूर्तियों का निर्माण प्रचलित हुआ है। निम्न लिखित उद्धरणमें ऋषभदेव का स्मरण जटा-जूट-रूपसे ही किया गया है।

पढमु जिणवरु णविवि भावेंण जड मउड विहूसिउ
विसय विणहु मयणारि पासणु।
अमरासुर-णर-थुय चालणु सत्त तच्च णवपयत्थ-
णवणमहिं पयासणु॥

(अपभ्रंश सुकुमालचरित का मंगलाचरण)

इस प्रकार शिवजी और ऋषभदेव की जटा-जूट-युक्त तथा ऋषभ-चिन्ह से अंकित दिगम्बर मूर्तियां उन दोनों के एकत्वकी ही परिचायक हैं।

१० गंगावतरण—

हिन्दुओं की यह मान्यता है कि गंगा जब आकाश से अवतीर्ण हुई, तो शिवजी की जटाओं में बहुत समय तक भ्रमण करती रही और पीछे वह भूमंडल पर अवतरित हुई। यह एक रूपकालंकार है, जिसका असली रहस्य यह है कि भ० ऋषभदेव को जिस स्व-संवित्तिकी प्राप्ति हुई, वह छद्मस्थकाल तक उनके मस्तिष्क में अनुभूत होती रही। कैवल्य प्राप्तिके पश्चात् वही स्वानुभूति रूपी ज्ञान-गंगा वचन-द्वार से प्रगट होकर संसार के उद्धार के लिए बाहिर निकली और उसने अपने द्वारा सारे भूमंडल को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया।

इसके अतिरिक्त यह गंगावतरण एक अन्य घटना का भी स्मारक है। वह यह कि जैन मान्यताके अनुसार गंगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मसरोवर से निकलकर कितनी ही दूरी तक तो ऊपर ही पूर्वकी ओर बहती रही। पीछे दक्षिण की ओर मुड़कर जहां भूतलपर अवतीर्ण होती है, वहांपर नीचे गंगाकूट में एक विस्तीर्ण चबूतरे पर आदि जिनेन्द्रकी जटा-जूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएं अवस्थित हैं, जिनपर हिमवान् पर्वत के ऊपर से गंगाकी धार पड़ती है।

इसका बहुत सुन्दर वर्णन जैन शास्त्रों में मिलता है। विक्रम की चौथी शताब्दी के महान् आचार्य यतिवृषभने अपनी त्रिलोक प्रज्ञप्ति के चौथे अधिकार में उक्त गंगावतरण का वर्णन इस प्रकार किया है:—

आदि जिणप्पडिमाओ ताओ जड मउड सेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि
॥२३०॥

अर्थात्—उस गंगा कूटके ऊपर जटा रूप मुकुटसे सुशोभित आदि जिनेन्द्र की प्रतिमाएँ हैं। उन प्रतिमाओं का मानों अभिषेक करने के लिए ही गंगा उन प्रतिमाओं के ऊपर अवतीर्ण हुई है।

त्रिलोकसारके रचयिता आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने भी गंगावतरण के इसी दृश्यको इस प्रकार चित्रित किया है:—

सिरिगिह सीसट्ठियं वुजकण्णिय सिंहासणं जडा-
मउलं।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा ॥५६०॥

अर्थात्—श्रीदेवी के गृहके शीर्षपर स्थित कमलकी कर्णिकाके ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटा रूप मुकुट वाली जिनमूर्ति है, उसे अभिषेक करने के लिए ही मानों गंगा उस मूर्तिके मस्तकपर हिमवान् से अवतीर्ण हुई है।

११ त्रिशूल

महादेव को त्रिशूल-धारी और अन्धकासुर का संहारक माना जाता है और इसके स्मरणार्थ महादेव की मूर्तियों के साथ त्रिशूल और नरकपाल भी चित्रित मिलते हैं। पर अभी तक जो महादेव की मूर्तियां उपलब्ध हुई थीं, वे त्रिशूल और नरकपाल से युक्त होने पर भी योग मुद्रामें न होकर विभिन्न मुद्राओं में ही मिली थीं। किन्तु गतवर्ष मुझे अपने बगीचे के कंटीली झाड़ियों और सांपकी बांबियों से व्याप्त एक टीलेकी खुदाई करते हुए एक ऐसी सुन्दर और प्राचीन मूर्ति उपलब्ध हुई है, जिससे कि ऋषभदेव और महादेव के एक मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। मूर्ति देशी पाषाण पर उत्कीर्ण है जिसकी लम्बाई २ फुट और चौड़ाई १॥ फुट है। उसके मध्यमें एक फुट ऊंची ध्यान मुद्रा-युक्त पद्मासन मूर्ति है। मूर्तिके दाहिनी ओर एक त्रिशूल अंकित है, जिसकी ऊंचाई मूर्तिके कानों तक है। बाईं ओर इतनी ही ऊंचाई पर दण्डेके ऊपर एक नरकपाल अवस्थित है। मूर्तिके पादपीठ के नीचे सामने की ओर मुख किये हुए बैलका मुख अंकित है, जिसके दोनों सींग दायें बायें ऊपर की ओर जाकर अर्धचन्द्राकार का रूप धारण कर रहे हैं। इस चरण-चिन्हके दाईं ओर एक श्रावक और बाईं ओर एक श्राविका की अर्ध नमस्कार मुद्रामें एक एक मूर्तिबनी हुई है। मूर्तिके शिरपर बाल जटा-जूट

त्रिशूलधारी ऋषभमूर्ति साढुमर (झांसी)

रूपमें उत्कीर्ण किये गये हैं। जटाजूट से ऊपर का भाग टूटा हुआ है। मूर्तिका चित्र साथमें ही मुद्रित है।

अरिहन्तों की व्याख्या करते हुए वीरसेनाचार्य ने ग्रन्थराज श्री धवल सिद्धान्त में तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं, उनमें से तीसरी गाथामें त्रिशूलधारी और नरकपाल युक्त अरिहन्तोंका स्मरण किया गया है। वहगाथा इस प्रकार है:—

ति-रयण-तिसूल धारिय मोह धासुर-कबंध-विंद-
हरा।
सिद्धसयलप्परूवा अरिहंता दुण्णय-कयंता॥

अर्थात् जिन्होंने रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) रूप त्रिशूल को धारण करके मोहरूप अन्धकासुरका शिरकाट डाला है और जो दुर्नयों (मिथ्यामतों) के लिए कृतान्त (यम) स्वरूप हैं, ऐसे आत्मस्वरूप के सिद्ध करने वाले अरिहन्त होते हैं।

इस उद्धरण से सिद्ध है कि जैनियों के परममान्य आप्त परमेष्ठी अरिहन्त ही वास्तविक महादेव हैं। और ऊपर

जिस मूर्तिका उल्लेख किया गया है, वह अरिहन्त पदको प्राप्त जैनियों के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की ही मूर्ति है और अपने आकार-प्रकार के द्वारा ऋषभदेव और महादेवकी एकता का उद्घोष कर रही है।

त्रिशूल वस्तुतः रत्नत्रयका प्रतीक है। और उसके द्वारा रागद्वेष और मोहरूप त्रिपुरासुर या अन्धकासुरका संहार करने के कारण ऋषभदेव ही त्रिपुरारि, अन्धकारांति आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज विविध रूपोंमें भ० ऋषभदेव के अमर स्मारक अपने ऐतिहासिकता की अमिट छापको लिए हुये भारतवर्षमें, सर्वत्र व्याप्त हैं, जिनसे कोई भी पुरातत्वविद् इन्कार नहीं कर सकता।